

देहली 3

मैंने रोना सीख लिया।

बहुत बरसों तक मैं सोचता रहा कि ताकत नियंत्रण में है।

शब्दों पर नियंत्रण।

भावनाओं पर नियंत्रण।

प्रतिक्रियाओं पर नियंत्रण।

दर्द पर नियंत्रण।

यह एक ऐसा विचार था जिसे मैंने धीरे-धीरे सोख लिया था,
जैसा सभी गहरी धारणाओं के साथ होता है।

किसी ने मुझे यह खुलकर नहीं सिखाया था।

किसी ने मुझसे कहा नहीं था:

"मर्द को रोना नहीं चाहिए।"

फिर भी वह संदेश हर जगह था।

बातचीतों में।

व्यवहारों में।

मिसालों में।

निगाहों में।

खुद संस्कृति में।

इस तरह मैंने जल्दी ही एक सीधा-सा नियम सीख लिया।

डटे रहो।

हमेशा।

चाहे कुछ भी हो जाए।

डटे रहो।

जवानी में मैं मानता था कि यह एक गुण है।

आज जानता हूँ कि वह बस एक रणनीति थी।

कुछ पलों में काम आने वाली रणनीति।

और बहुत से पलों में ख़तरनाक।

क्योंकि जो कुछ भी बहुत देर तक रोका जाता है, वह देर-सबेर बाहर निकलने का रास्ता ढूँढ़ता है।

दर्द मिटता नहीं।

डर मिटता नहीं।

उदासी मिटती नहीं।

वे रूप बदल लेते हैं।

छिप जाते हैं।

इंतज़ार करते हैं।

फिर, जब हमें सबसे कम उम्मीद होती है, दरवाज़ा खटखटाते हैं।

मुझे अपनी ज़िंदगी का एक मौसम याद है जब लगता था कि हर चीज़ ताक़त माँग रही है।

काम।

परिवार।

ज़िम्मेदारी।

बीमारी।

फ़ैसले।

लोग जो मुझ पर भरोसा किए बैठे थे।

लोग जिन्हें एक जवाब चाहिए था।

लोग जो एक दिशा ढूँढ़ रहे थे।

मैं रुकने की इजाज़त खुद को नहीं दे सकता था।

कम से कम ऐसा मैं मानता था।

हर दिन मैं एक नया बोझ जोड़ लेता था।

हर दिन मैं उस पल को और आगे खिसका देता था जब मैं खुद की सुनता।

और आगे।

हमेशा और आगे।

हैरानी होती है कि इंसान कितने लंबे समय तक अपनी भीतरी दुनिया को अनदेखा कर सकता है।

पर हमेशा के लिए नहीं।

कोई भी हमेशा के लिए ऐसा नहीं कर सकता।

एक पल आता है जब शरीर वह कहने लगता है जो आवाज़ कहने से इनकार करती है।

थकान बढ़ती है।

नींद बदल जाती है।

मन थकने लगता है।

भावनाएँ और नाज़ुक हो जाती हैं।

और धीरे-धीरे तुम समझते हो कि तुम दुनिया से नहीं लड़ रहे।

तुम खुद से लड़ रहे हो।

सच्चाई सीधे-सादे ढंग से आई।

जैसे सच्ची सच्चाइयाँ हमेशा आती हैं।

बिना विशेष प्रभावों के।

बिना घोषणाओं के ।

बिना तमाशे के ।

एक दिन बोझ बहुत बड़ा हो गया ।

और बचाव बहुत छोटे ।

मुझे वह खामोशी याद है ।

मुझे वह अकेलापन याद है ।

मुझे वह अचानक एहसास याद है कि अब कोई किरदार नहीं निभाना है ।

बहुत समय बाद पहली बार मैं कोई पेशेवर नहीं था ।

पिता नहीं था ।

पति नहीं था ।

अधिकारी नहीं था ।

लेखक नहीं था ।

मैं बस एक इंसान था ।

और मैं रोया ।

कोई सलीकेदार रोना नहीं ।

कोई नियंत्रित रोना नहीं ।

सच्चा रोना ।

उनमें से, जो दूर से आते हैं ।

उनमें से, जो बरसों को पार करके आते हैं ।

उनमें से, जो अपने साथ वे चीज़ें लाते हैं जिन्हें सँभालकर रखना भी तुम्हें याद नहीं था ।

जब यह हो रहा था, मुझे एक अप्रत्याशित एहसास हुआ ।

कमज़ोरी का नहीं।

मुक्ति का।

जैसे बहुत देर तक बंद रहे किसी कमरे ने आखिरकार अपनी
खिड़कियाँ खोल दी हों।

जैसे हवा फिर से बहने लगी हो।

जैसे कुछ, आखिरकार, रोका जाना बंद हो गया हो।

तभी मैंने एक बुनियादी बात समझी।

भावनाएँ दुश्मन नहीं हैं।

वे संदेशवाहक हैं।

वे हमें कुछ बताने आती हैं।

उन्हें अनदेखा करना उन्हें मिटाता नहीं।

बस उन्हें और शोर भरा बना देता है।

बरसों मैं मानता रहा था कि हिम्मत झुक न जाने में है।

उस पल मैंने समझा कि हिम्मत खुद को पार हो जाने देने में भी
है।

दर्द से।

डर से।

उदासी से।

सच से।

लोग अक्सर भेद्यता को एक दरार की तरह देखते हैं।

मैंने पाया कि वह एक दरवाज़ा बन सकती है।

क्योंकि जिस पल तुम हर चीज़ से अपना बचाव करना छोड़ देते
हो, तुम आखिरकार खुद को जानना शुरू करते हो।

और खुद को जानना बाहर की कई लड़ाइयाँ जीतने से कहीं
ज़्यादा मुश्किल है।

उस दिन से कुछ बदल गया।

मैं अचानक ज़्यादा समझदार नहीं हो गया।

अचानक ज़्यादा मज़बूत नहीं हो गया।

मैं ज़्यादा सच्चा हो गया।

जो एक अलग बात है।

मैं अलग ढंग से बोलने लगा।

अलग ढंग से सुनने लगा।

दूसरों को ज़्यादा समझ के साथ देखने लगा।

क्योंकि जिसने अपना दर्द पार किया है, वह दूसरों का दर्द
ज़्यादा आसानी से पहचान लेता है।

उस पर फ़ैसले नहीं सुनाता।

उसे छोटा नहीं करता।

फ़ौरन कोई समाधान नहीं ढूँढ़ता।

उसे पहचानता है।

और यह पहचान अपने आप में मदद का एक रूप है।

समय बीतने के साथ मैं भेद्यता को एक नई रोशनी में देखने
लगा।

जिन लोगों की मैं सबसे ज़्यादा क्रुद्ध करता था, वे ऊपर से
अजेय दिखने वाले लोग नहीं थे।

वे सच्चे लोग थे।

वे, जो अपनी इंसानियत को तमाशा बनाए बिना दिखा सकते
थे।

वे, जिन्हें यह कहने से डर नहीं लगता था:

"मैं अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश कर रहा हूँ।"

क्योंकि, आखिरकार, हम सब यही करते हैं।

अपनी पूरी कोशिश।

किसी दिन वह बहुत होती है।

किसी दिन कम।

पर वही हमेशा हमारे पास होती है।

पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो उस पल को मैं हार नहीं मानता।

उसे एक देहली मानता हूँ।

अपनी ज़िंदगी की सबसे अहम देहलियों में से एक।

पहले मैं सोचता था कि ताक़त का मतलब है न रोना।

बाद में समझा कि ताक़त का मतलब है अपने आँसुओं से न डरना।

क्योंकि परिपक्वता का एक रूप है जो तभी आता है जब हम दिखावा करना छोड़ देते हैं।

जब हम दिखने की कोशिश छोड़ देते हैं।

जब हम अभिनय करना छोड़ देते हैं।

और आखिरकार अपनी इंसानी फ़ितरत को स्वीकार कर लेते हैं।

नाज़ुक।

अधूरी।

अद्भुत रूप से अधूरी।

आज मुझे ठीक-ठीक दिन याद नहीं।

वक़्त याद नहीं।

सारे हालात भी याद नहीं ।

याद है तो बस वह जो मैंने सीखा ।

कि बाँटा हुआ दर्द कम भारी होता है ।

कि सच गुरुर से ज़्यादा आज़ाद करता है ।

कि भेद्यता गरिमा को नष्ट नहीं करती ।

उसे पूरा करती है ।

और सबसे बढ़कर मुझे एक वाक्य याद है जो तब मैं कह भी नहीं पाता ।

एक सीधा-सा वाक्य ।

एक वाक्य जिसने बहुत कुछ बदल दिया ।

मैंने रोना सीख लिया ।

और उस दिन से मैं खुद को बेहतर समझने लगा हूँ ।